International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232, Impact Factor: RJIF 5.22
www.hindijournal.com
Volume 2; Issue 3; May 2016; Page No. 49-53

कबीर' के संधा-भाषा की मौलिकता

डॉ. राजेश मिश्र

सहायक प्राध्यापक, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, कोनी, बिलासपुर, छत्तीसगढ़, भारत ।

प्रस्तावना

कबीर का भाषा व्यवहार परंपरा प्रसूत है मौलिक नहीं । रीति काल के कई ऐसे शब्द-सिद्ध कवि थे जो एक या दो शब्दों से पूरा छंद तैयार करते थे । या अनपढ़ होने पर भी श्रेष्ठ आशु-कवि के रूप में लोक प्रचलित थे । गाँवों में आज भी ऐसे अनपढ़ लेकिन अनुभवी बुजुर्ग हैं जो निरर्थक शब्दों के रूढ़ अर्थों में सार्थक प्रयोग करते हुए उच्चारण शैली और ध्वन्यात्मक अवलम्ब से शब्दों को मन चाहा अर्थ-विस्तार देते हैं । अतः कबीर के बारे में द्विवेदी जी के कथन का जो यह सारांश है कि " अपने शब्दों से अर्थगौरव भरने और भाषाई प्रयोग करने के कारण कबीर वाणी के डिक्टेटर थे, सीधे सीधे या दरेरा देकर वे जैसा चाहे वाक् विधान करते थे, वह परपरा प्रसूत है उनकी अपनी नहीं । कबीर पूर्व या उनके समकालीन योगियों संतों ने जिस भाषा का विधान अपनी योग और साधना क्षेत्र की गूढ़ता को बनाये-बचाए रखने के लिए पारिभाषिक अर्थों में किया था, कबीर की वाणी उसका शाब्दिक अनुशीलन करती है । ब्रह्म, अनहद, नाद, सहस्रार, कुण्डलिनी, विविध चक्रों, अवस्थाओं तथा ज्ञान की दशाओं की व्यंजना के लिए नाथादि संतों योगियों ने सूत्रार्थक-गूढ़ार्थक शब्द-प्रयोगों का जो आविष्कार अपने लिए किया था, कबीर ने उसी को लोक तक पहुचाने वाले माध्यम के रूप में उद्घाटित किया है । घुमक्कड़ और सत्संगी चर्याओं के द्वारा कबीर का मानस भक्ति, योग, प्रेम और अध्यात्म के क्षेत्रों से कुछ अच्छे, कम प्रचलित और विशेष तत्वों-बातों को आत्मसात करके, बाकी को छोड़ करके अपने संत व्यक्तित्व को तेवर प्रदान करते थे । सूफी मत के तत्वों, वैरागी संतों के वचनों, नाथ-सिद्धों के साधना मूलक उपदेशों तथा भक्ति के साम्प्रदायिक स्वरूपों के समाहार से कबीर की वाणी का विधान हुआ है ।

भाषा के प्रभाव और आकर्षण को साधकर कबीर समाज को कनफटे जोगियों के समान चमत्कृत करते थे । कबीर की मौलिकता वहां दिखाई पड़ती है जहाँ वे साम्प्रदायिक मत वैविध्य और और उनके आडम्बरों के प्रति अपनी खिन्नता प्रकट करते हैं, जहां वे हिन्दू और मुस्लिम दोनों के दिखावे को फटकार लगाते हैं । वे ना तो भक्त थे, न तो साधक थे, न तो समाज सुधारक और ना ही पूरे अर्थों में संत थे - यह बात द्विवेदी जी स्वीकार कर चुके हैं। कबीर इन सभी क्षेत्रों की बातों को आत्मसात किये हुए निडर और कुशल उपदेशक थे । वे जिसे गलत महसूस करते थे उसपर मुक्त हृदय से, शब्दों को उचित शैली और अर्थ देते हुए वाणी का ऐसा विधान करते थे जो समाज में एक विशेष प्रभाव उत्पन्न कर सके । सरहपा, शबरपा, आदि अनेक संतों-योगियों के कथन ऐसे मिलते हैं जिनका कबीर केवल दुहराव करते हैं,कुछ ऐसा हेर फेर, जो मौलिक जैसा प्रभाव उत्पन्न कर सके । जैसे 'ढोला मारू रा दूहा' का दोहा संख्या 53, पृ. 17 के इस दोहे –

"राति जू सारस कुरलिया गूंजि रहे सब ताल ।
जिणकी जोड़ी बीछुड़ी तिणका कौन हवाल॥"को कबीर इस तरह कहते हैं-
"अम्बर कुंजा कुरलियां, गरजि भरे सब ताल । जिनि पै गोविन्द बीछुटे, तिनके कौन हवाल॥"
(कबीर ग्रंथावली, साखी-2 पृष-7)[1]

या सरहपा का यह दोहा जहां वे साधकों को उपदेश देते हैं कि-

"जेहि मण पवण ण संचरयि, रवि ससि णाह पवेस ।
तहिं बढ़ चित्त बिसाम करु, सरहे कहिअ उएस ॥"[2]

जिसे कबीर ने अपनाकर बताया कि -

जिहिं वण सीह न संचरै, पंखि उड़े नहिं जाई । रैनि दिवस का गमि नहीं, तह कबीर रहा ल्यौ लाइ ।।"
(कबीर ग्रंथावली ना.प्र.स. काशी, साखी -1, पृष-18)[3]

सरहपा शबरपा डोम्भिपा गोरखबानी ढोला मारू रा दूहा पाहुणदोहा गुरुग्रंथ साहब आदि कई ऐसे ग्रन्थ हैं जहां के उपदेशों से कबीर अपनी वाणी और उसके प्रभाव को ओज ओजपूर्ण स्वर प्रदान करते हैं । कबीर सही अर्थों में मौलिक न होकर अपने समय और समाज के संचित-विग्रह-व्यक्तित्व हैं ।

कबीर के व्यक्तित्व की निर्मिति को ठीक से जानने के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और परशुराम चतुर्वेदी जी के ग्रंथों में कबीर की वाणी और उनके साहित्य की विशेषताओं से जुड़े ऐसे और भी कई स्थल देखे जा सकते हैं । आचार्य द्विवेदी जी ने लिखा है कि

Scanned with CamScanner